IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

प्राचीन भारत में मानवाधिकार

कुमारी एकता

शोध–छात्रा, इतिहास विभाग

ल0 ना0 मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा।

मानव सभ्यता के इतिहास में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का उद्घोष मनुष्य की वैचारिक यात्रा का वह प्रस्थान बिन्दू है जहाँ से मानवाधिकार की चिन्तन प्रक्रिया प्रारंभ होती है और व्यक्ति अपने स्व, समूह तथा परिवार को सम्पूर्ण वैश्विक जगत से जोड़कर समाज को इतना विस्तार देता है कि पूरी दुनिया ही कुटुम्ब बन जाती है। भारतीय संस्कृति की सर्वप्रमुख विशेषता रही है कि इसमे लौकिक व्यवहार के क्षेत्र में सर्वदा वैसे ही मूल्यों एवं सिद्धान्तों को स्थान दिया गया है जो व्यक्ति में ब्रह्मांड के साथ एकाकार करने का भाव सृजित करें। 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का भाव ज्योंहि व्यवहार का रूप लेता है मनुष्य का महान चरित्र जीवंत हो उठता है और वे समस्त दुष्प्रवृतियाँ जो उसे भ्रष्ट अत्याचारी, अनाचारी, अहंकारी और मदांध बनाती है, स्वतः समाप्त हो जाती है। जीवन जगत के सम्बंध में अतुलनीय चिंतन, परम्परा से समृद्ध भारतवर्ष की धरती पर विगत चंद दशक से गंभीर विचार मीमांसा का विषय बना मानवाधिकार कितना आधुनिक है और कितना प्राचीन, एक विवादास्पद एवं ज्वलंत प्रश्न है और यह तब तक ज्वलंत बना रहेगा जब तक कि इसका सर्वमान्य उत्तर नहीं ढूंढ लिया जाता है।

मानव अधिकार प्रकृति प्रदत्त है। इस अवधारणा की उत्पत्ति सामान्यतया ग्रीक–रोमन प्राकृतिक विधि की स्टोयासिज्म (स्टोईक दर्शन) के सिद्धांतों में पाया जाता है जिससे यह माना गया है कि एक सार्वभौमिक शक्ति सभी जीवों में व्याप्त है इसलिए मानव आचरण प्राकृतिक विधि के अनुसार होनी चाहिए। मानव अधिकारों के संरक्षक का प्रमाण प्राचीन काल की बेवीलोनिया विधि, असीरिया विधि, हिती विधि तथा भारत में वैदिक कालीन धर्म में पाये जाते हैं। विश्व की सभी प्रमुख धर्मो का आधार मानवतावादी है, जो अंतर्वस्तु में भेद होने के बावजूद मानव अधिकारों का समर्थन करते हैं। प्लेटो सर्वप्रथम ऐसा लेखक थें जिन्होंने नौतिक आचारण के सर्वाभौमिक आचारण की वकालत की थी इसका तात्पर्य यह था विदेशियों से भी उसी प्रकार से संव्यवहार किया जाये जिस प्रकार कोई राज्य अपने देशवासियों से संव्यवहार करता है। अबतक के अध्ययन का परीक्षण करें तो हम इस वास्तविकता से परिचित होंगे कि मानव अधिकार की अवधारणा एवं इसका

विकास कुछ नया नहीं है। वरन यह प्राचीन काल से चली आ रही एक क्रमिक प्रयास का परिणाम है। इतिहास का अध्ययन करने पर हमें ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक समाज में संभ्रांत एवं शक्तिशाली वर्गो का उदय होने के साथ ही व्यक्ति का व्यक्ति द्वारा शोषण एवं मानवाधिकार का हनन होने लगा था। दरअसल मानव जाति अन्य जीवों की तुलना में बुद्धिजीवी प्राणी है। अतः अपने ऐतिहासिक परम्परा का पालन करते हुए वह भी लोगों का मानसिक शारीरिक एवं आर्थिक शोषण कर सुविधाएँ अर्जित करने लगा तथा उसके इस प्रयास में किया गया अधिकतम कार्य मानव अधिकारों के उल्लंघन का परिचायक बनने लगा।

मानवीय सभ्यता का विकास होने के साथ ही मानव अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होने लगा था, परंतु इन्हें अधिकारों की संज्ञा न देकर इच्छाओं की संज्ञा के रूप में स्वीकार किया गया। इन इच्छाओं को मानव अधिकार की संज्ञा द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद प्रदान की गयी और उनका सार्वभौमिककरण हुआ क्योंकि मानवीय स्वतंत्राताओं के प्रति समुचे विश्व की अन्तचेतना द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान ही जगी।

अंत प्रकृति द्वारा प्रदत्त वे अहरणीय अधिकार जो प्रत्येक मनुष्य को उनके वंश, जाति, लिंग एवं राष्ट्रीयता को ध्यान में न रखकर उनके विवेकपूर्ण एवं बुद्धिमान होने के नाते जो उनकी गरिमा एवं स्वतंत्रता में वृद्धि के साथ–साथ उनकी शरीरिक, नैतिक सामाजिक एवं भौतिक कल्याण की वृद्धि में भी सहायक हो मानवाधिकार कहे जाते हैं। परम्परागत रूप से इसे प्राकृतिक या सअंक्रमणीय अधिकार भी कहा जाता है। प्लेटो ने जहाँ सर्वप्रथम सार्वभौमिक आचरण की वकालत की, सिसरों ने अपनी कृति The Laws में प्राकृतिक विधि तथा मानव अधिकारों क नींव रखी। विश्वास था कि सार्वभौमिक मानव अधिकार विधियाँ ऐसी होनी चाहिए जो संदिग्ध एवं सिविल विधियों से श्रेष्ठ हों।

सन् 1215 में ब्रिटेन में राजा ने सामंतो को कुछ अधिकार दिए, वही से मानवधिकारों की बात प्रारंभ हुई। यूरोपीय इसे विश्व में जनता के मौलिक अधिकारों का प्रथम दस्तावेज मानते हैं। फ्रांस में सन् 1525 में प्रकाशित पुस्तक 'द टेवेल्स आर्टिकल्स आफ द वल्क फॉरेस्ट' में जर्मनी के किसानों की आवश्यकताओं का उल्लेख किया गया। प्रसिद्ध फ्राँसीसी विद्वान रूसों ने स्न 1762 में अपनी पुस्तक 'सोशल कॉन्ट्रेक्ट' में लिखा था कि मानव स्वतंत्र पैदा हुआ है परन्तु सर्वत्र जंजीरों से जकड़ा हुआ है। उसने सभी व्यक्तियों को स्वतंत्र और समान माना था। फ्राँस की क्रांति के नारे – समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व उसी के विचारों से प्रेरित थे। इसप्रकार संपूर्ण यूरोप मानवाधिकारों की चर्चा फैल चुकी थी। उन्होंने अमेरिकी काँग्रेस में चार बिंन्दुओं पर विशेष बल दिया था – विचारों की अभिव्यक्ति, धार्मिक स्वतंत्रता, अभाव तथा भय से मुक्ति। कुछ वर्षो बाद सन् 1948 में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने मानवाधिकारों को एक गंभीर विषय मानते हुए अपने कार्यक्रमों में समिलित किया और 10 दिसम्बर, को मानवाधिकार दिवस घोषित किया ताकि संपूर्ण विश्व को जाग्रत किया जा सके। इस प्रकार, सरकार द्वारा प्रदत्त अधिकार जिससे सभी नागरिकों को समान एवं पर्याप्त अवसर उपलब्ध हो, मानवाधिकार कहलाते है भयमुक्त माहौल, सुरक्षित जीवन, शुद्ध पानी, भोजन, शिक्षा, आवास, यातायात एवं राजनीतिक – सामाजिक – आर्थिक – धार्मिक स्वंतत्रता आदि सभी मूलभूत आवश्यकताएँ इसके आधार हैं। अतः किसी भी सरकार का प्राथमिक कर्त्तव्य नागरिकों के व्यक्तित्त्व का पूर्ण विकास करना होता है। यदि काई

सरकार इसमें विफल रहती है तो उसे मानवाधिकारों का हनन माना जाता है। यूरोप में ऐसा था, अतः वहाँ इस प्रकार का विमर्श प्रारंभ हुआ और प्रचारित किया गया कि उन्होंने ही सर्वप्रथम मानव–अधिकारों की अवधारणा प्रस्तुत की। जबकि प्राचीन भारत में मानव से भी आगे जाकर प्रत्येक प्राणी सहित पर्यावरण एवं समस्त ब्रह्माण्ड श्रेष्ठता की कामना की गई थी।

भारत में आज से लगभग 5000 वर्ष पूर्व भी सिंधु सम्यता में एक जन कल्याणकारी सरकार थी। मोहनजोदड़ों के भवन, सुनियोजित नगर योजना, हड़प्पा के अन्नागार ..... आदि सब इस आशय के साक्षी हैं। तब के शासको को यह जानकारी थी कि घरों का पानी नालियों में इकट्ठा होगा तो गंदगी, बदबू, मच्छर एवं बीमारियाँ फैलेगी, अतः उन्होंने एक सुनोजित जल निकासी प्रणाली को अपनाया। मोहनजोदड़ों के भवनों में हवा एवं प्रकाश की समुचित व्यवस्था थी। हड़प्पा के अन्न भंडार के अवशेषों से भी हड़प्पा सरकार की अकाल व बाढ़ के समय मानव कल्याण की भावना ही परिलक्षित होती है। सैधव काल के नगरों के अवशेषों में प्राप्त वस्तुओं एवं मुर्त्तियों में उनकी स्त्री सम्मान एवं सभी जीवों–प्रकृति की रक्षा की भावना प्रकट होती है। अतः कहना होगा पृथ्वी के अधिकांश भागों में लोग जब बर्बर जीवन जी रहे थे तब भारतवर्ष में एक ऐसी सभ्यता विकसित हो चुकी थी जिसमें सभी स्त्री–पुरूषों, जीवों एवं प्रकृति के प्रति पर्याप्त संवेदना थी। अर्थात भारत में सिंधु–सभ्यता के काल में मानव अधिकारों का हनन नहीं हो रहा था।

विश्व की इस प्राचीनतम सभ्यता में मानव मूल्यो के जिन मानकों का बीजारोपण किया गया उनका समुचित दर्शन वैदिक सभ्यता में मिलता है। वैदिककाल से ही समस्त जीवों और प्रकृति की परस्पर निर्भरता का उल्लेख करते हुए संपूर्ण लोक के कल्याण की अवधारणा प्रस्तुत की गयी है। वैदिक मंत्रो में उपस्थित मंगलकामना के भाव किसी अन्य देश में अनुपस्थित मिलेंगे। उदाहरणार्थ –

ऊँ सर्वो भवन्तु सुखिनः
सर्वो सन्तु निरामयाः।
सर्वो भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चित् दुःख शग्भवेत्।।
ऊँ शांतिः शांतिः शांति

अर्थात सभी सुखी होवें, सभी रोगमुक्त रहें, सभी मंगलमय घटनाओं के साक्षी बनें और किसी भी दुःख का भागी न बनना पड़े। इस मत्र में सभी जीवों के लिए, हवा, पानी, भोजन व आश्रय आदि की आवश्यकता समझ ली गई थी। उस काल में इससे बड़ी मानवाधिकारों की सुरक्षा की गूँज धरती के किसी होने में सुनाई नहीं देती है। यजुर्वेद का प्रसिद्ध गायत्री मंत्र–

ऊँ भूः भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं:
भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात

अर्थात ''उस प्राणस्वरूप, दुःखनाशक, सुखस्वरूप श्रेष्ठ, तेजस्वी, पापनाशक, देवस्वरूप परमात्मा को हम अन्तःकरण में धारण करें।'' मंत्र से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में ही हमारे प्राचीन ऋषियों ने ईश्वर से ऐसी बुद्धि की याचना की है जो किसी को भी कष्ट न पहूँचाए।

इसी प्रकार शुक्ल यजुर्वेद का शांति मंत्र –

ऊँ धौः शन्तिरन्तरिक्ष शांतिः

पृथ्वी शांतिरापः शांतिरोशधयः शांतिः।

वनस्पतयः शांतिर्विश्वे देवाः शांतिब्रह्म शांति,

सर्व शांतिः शांतिरेव शांतिः, सा मा शांतिरेधि।।

अर्थात ''हे ईश्वर। त्रिभुवन में शांति कीजिए, अंतरिक्ष में, पृथ्वी में, जल में, औषधियों में शांति कीजिए। वनस्पति में, विश्व के सभी देवों में, सृजन में, सभी में शांति कीजिए, शांति में भी शांति कीजिए।'' इस मंत्र में भारतीय ऋषि मानवाधिकार से भी कहीं बहुत आगे हैं। उनकी दृष्टि अत्यंत व्यापक है।

मानवाधिकार के संवर्धन एवं संरक्षण का जो आंदोलन आज विश्व स्तर पर चल रहा है उसकी जड़े वर्त्तमान में न होकर हमारे अतीत में है, क्योंकि प्राचीन काल से ही शक्तिशाली वर्ग द्वारा गरीब वर्ग का शोषण किया जाता था तथा उनके द्वारा दी गयी यातनाएँ मानवीय कल्पना से परे थी। ऐसे दंगे एवं उत्पीड़न के विरूद्ध मानव हमेशा से संघर्ष करता आ रहा है और जहाँ–जहाँ एवं जब–जब उसे अवसर मिला है वहाँ–वहाँ उसने शक्तिशाली वर्ग (राजा, शासक आदि) के अधिकार को कम कराये। इस तरह यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सभ्यता का इतिहास स्वतंत्रता एवं शाक्ति के बीच संघर्ष का इतिहास रहा है।

मानवाधिकार का विकास राष्ट्रीय एवं अंतराष्ट्रीय दोनों स्तर पर हुआ। राष्ट्रीय स्तर पर मानव अधिकार के विकास का अध्ययन करने पर ऐसे अनेक तथ्य एवं उदाहरण सामने आते हैं जिनसे पता चलता है कि प्राचीन भारतीय इतिहास किस प्रकार मानवाधिकारों के प्रति जागरूक था। प्राचीन भारत के धर्म, शासन नीतियाँ एवं व्यवस्था मानव अधिकारों में प्रगति का घोतक थी। प्राचीन भारतीय विचारक एवं दार्शनिकों द्वारा दिये गये सिद्धांत धर्म पर आधारित एक नैतिक सिद्धांत थे जो व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पहलू को स्पर्श करते थे। वैदिक कालीन धर्म का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि प्राचीन भारत में न्याय इस प्रकार किये जाते थे जो सम्प्रभु राजा के साथ–साथ आम नागरिकों को भी सुरक्षा प्रदान करते थे। वैदिक कालीन धर्म के अनुसार राजा अपनी प्रजा के योगक्षेम का वाहक होता है। वैदिक कालीन उच्च समाज एक सर्वोच्च एवं उच्च कोटी का समाज था जिसमें राजा का कार्य केवल विधि निर्माण तक ही सीमित न होकर प्रजा एवं पूरे समाज को सुरक्षा प्रदान करना था। एक राजा के कार्यो को ध्यान में रखते हुए मनु ने कहा है कि, ''यह राज्य का कर्त्तव्य है कि वह शिक्षा एवं ईमानदारी का समर्थन करे।

वैदिक काल उत्तरवैदिक काल, बुद्धवाद एवं जैनवाद आदि का अध्ययन करने पर ऐसे बहुत से प्रमाण एवं उदाहरण परलिक्षित होते हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि इस काल में भी मानवीय विचारधारा ऊँच–नीच, छुआ–छूत एवं अमीर–गरीब के भेदभाव की भावना से परे नहीं था। इसी काल विशेष में सम्राट अशोक गौतम का अनुयायी बनकर अवतरित हुआ जिसने मानव के अधिकारों, स्वतंत्रकारों समानता एवं उनके आदर्शो को संरक्षण प्रदान किया। वह एक ऐसी राज्य की स्थापना करने में सफल हुआ जो मानव जाति की गरिमा एवं अधिकारों को संरक्षित रखने के साथ–साथ कैदियों के साथ होने वाले अमानवीय अत्याचार को भी प्रतिबंधित करता था। अशोक ने अपनी द्वितीय राजाज्ञा में खुदवाया कि ''सभी मनुष्य मेरे बच्चे है, जिस प्रकार मेरी हार्दिक इच्छा है कि मेरे बच्चे संसार में व्याप्त समस्त खुशहाली का आनंद उठावें, बिलकुल यही इच्छा समूचे पृथ्वी पर उपस्थित मेरे उन सभी बच्चों के लिए भी है।''

अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य का उदय मानवाधिकारों के हनन का पर्याय बना। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य एवं अंतिम शासक हर्षवर्धन के समय भारतीय संस्कृतिक अपने चरम सीमा पर थी। परन्तु उसके शासन काल की समाप्ति समाज में बुराइयों का जन्म एवं मानव अधिकारों के हनन का सोपान सिद्ध हुआ।

ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से यह स्पष्ट होता है कि भारत में आदिकाल से ही मानव अधिकार के संबंध में व्यापक दृष्टिकोण अपनाया गया है। सभी मानवों में समान रूप से व्यवहार करने की परंपरा ऋग्वैदिक काल से ही दृष्टिगोचर होती है। ऋग्वेद में ऋषि घोषणा करता है कि 'अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते, संभ्रातरी वावृधुः सौभग्य'। यानि समाज में कोई ऊँच–नीच का भेद नहीं है, सभी भाई हैं, सबको सबकी भलाई और उन्नति करनी चाहए। ऋग्वेद की यही परंपरा भारत में पर्याप्त लंबे समय तक व्यवहार में रही और जब कभी भी इस परंपरा में अवरोध अनुभव किए गए तो समाज के गण्यमान व्यक्तियों ने इन अवरोधों को हटाने की सार्थक पहल की। इस प्रकार की एक सार्थक पहल दशरथ नंदन राम ने की। सृष्टि के आदि महाकाव्य 'रामायण' जिसको आदि कवि वाल्मीकि ने रचा, में अनेक प्रसंग ऐसे हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि राम ने तात्कालीन समाज में मानवों के अधिकार संरक्षण के लिए किस प्रकार से भगीरथ प्रयत्न किये चाहे वह प्रसंग गुहराज निषाद का हो या केवट का या फिर किष्किन्धा के राजा सुग्रीव या फिर संकट मोचन की भूमिका निर्वाहन करने वाले हनुमान का। उन्होंने न केवल इन सबको समस्त समाज के साथ समन्वयात्मक रूप में स्थापित करने के लिए प्रयास किए बल्कि अहिल्या, शबरी सदृश विदुषियों को भी उनके अधिकार दिलवाने में महत्वपूर्ण भूमिका निर्वहन की। इन सब प्रत्यत्नों में उन्हें अनेक समस्याओं का भी सामना करना पड़ा लेकिन उन्होंने इन बातों की परवाह न करते हुए अपनी भूमिका का उचित प्रकार से निर्वहन किया। उन्होंने प्रत्येक उस समस्या के संबंध में अपने आचार–विचार से समाधान प्रस्तुत किया जिससे मानवों के अधिकार प्रभावित होते थें। राम ने न केवल मानव के अधिकारों के संरक्षण की पहल की बल्कि मानव के लिए आवश्यक वातावरण निर्माण करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निर्वहन की। मानव के अधिकारों के पोषण में वातावरण का भी अत्यधिक महत्त्व है यह राम ने अपने व्यवहार से प्रकट किया। जिसके दुरगाामी परिणाम यह हुए कि उत्तर–वैदिक काल में रामायण में प्रस्तुत राम–राज्य की अवधारणा परवर्ती शासकों का भी आदर्श रही। श्री कृ

ष्ण ने भगवदगीता में मार्ग से भटके व्यक्ति को राह दिखाने का कार्य किया है। भटका हुआ राजा ही मानवाधिकारों का उल्लंघन कर सकता है। अतः श्रीकृष्ण उसे नियंत्रित करने का कार्य किया है। विद्वानों का मानना है कि भगवद्गीता में जीवन के प्रत्येक समस्या का समाधान है। भारत का प्राचीन काल तो धर्म और अध्यात्म के लिए ही विख्यात रहा है। महावीर स्वामी की अहिंसा और महात्मा बुद्ध की करूणा आज भी विश्व को हिंसा त्यागने और प्रेमपूर्वक रहने का संदश देती है।

मगध सम्राट में चन्द्रगुप्त मौर्य को प्रथम राष्ट्रीय शासक की संज्ञा प्राप्त है। चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमंत्री आचार्य चाणक्य ने राजा की दिनचर्या निर्धारित करते हुए शयन के लिए मात्र 3 घंटे का समय ही रखा था। शेष समय उन्होंने राजा को प्रजा कल्याण के लिए प्रेरित किया। चाणक्य ने राजाओं के लिए रचित अपने ग्रंथ पुस्तक में प्रशासनिक व्यवस्था का विस्तार से उल्लेख किया है। उनका मानना था कि न्याय करते समय राजा की दृष्टि में पुत्र और शत्रु में कोई भेद नहीं होना चाहिए। अर्थशास्त्र में एक श्लोक के अनुसार –

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम।
नात्याप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।।

इस मंत्र में लक्षित राज्य का लोक कल्याणकारी सवरूप अत्यंत दुर्लभ है। अर्थशास्त्र में राजा के अनुचित कार्य करने पर उसके लिए भी दंड का प्रावधान रखा गया था। वहीं सम्राट अशोक ने अपने अभिलेखों में स्पष्ट कर दिया था कि राजा को प्रजा की रक्षा संतान की तरह करनी चाहिए। जिस देश में राजा इतने प्रजा–हितैषी हो, वहाँ किसी के भी अधिकारों का हनन नहीं हो सकता है।

सामान्यतः आम भारतीयों की यह धारणा रही है कि अपने अधिकार और कर्तव्य जानते–समझते हुए जब कोई व्यक्ति दूसरों के अधिकार के प्रति संवेदनशील एवं सजग होता है, परहितभंजन की प्रवृति का अंत होता है और पूरे समाज में 'बहुजन हिताय। बहुजन सुखाय' का भाव जागृत होता है। बहुजन हिताय बहुजन सुखायः में मानवाधिकार की आत्मा बस्ती है। व्यक्ति की मर्यादा एवं स्वतंत्रता का आधारभूत सिद्धांत प्राचीन भारत के समस्त साहित्य में सर्वत दृष्टिगत होता है। शान्तिपूर्ण सह–अस्तितव और सहयोगी जीवन यापन वर्तमान में अनुभूत आवश्यकता है किन्तु भारतीय चिन्तन में अस्तित्ववादी संकट और बैद्धिक विमर्श आदिकाल से ही मौजूद रही है। वस्तुतः भारतीय चिन्तन का मुख्य सम्बंध मानव की मर्यादा एवं उसके अंतिम लक्ष्य से रहा है। मुनष्य की आत्मा सुरक्षा तथा मन की शांति हेतु प्राचीन काल से ही मुखरता से विचार होता रहा है।

आधुनिक युग में जब 'सर्वश्रेष्ठ की उतरजीविता' की लोकस्वीकृति के परिणामस्वरूप 'सफलता के लिए संघर्ष' मुनष्य के मौलिक प्राकृतिक अधिकारों पर भांति–भांति के संकट पैदा कर रही है, तब से मानवाधिकार का प्रश्न मुनष्य में जिदा रहने के संदर्भ में जुड़ गया है। क्या यह विषय संघर्षोत्तरकालीन वैश्विक चेतना की देन है या हमारी मौलिक चिंतनधारा का एक अंग विचारणीय प्रसंग है।

मानवाधिकार सम्बंधी विचार के उदभव को रेखांकित करने के लिए विद्वतजनों ने वेदों से लेकर परवर्ती साहित्य तक के संस्कृति साहित्य का गंभीर अध्ययन किया है और इस निष्कर्ष तक पहुँचने की चेष्टा की है कि भारतीय प्राचीन धर्मग्रंथ तथा धार्मिक पुस्तकों में मानवाधिकारों के विचारों को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। ऋग्वेद में नागरिक के तीन स्वतंत्रताओं शरीर वास के लिए आवास तथा जीवन का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है तथा सारी मानवता से दूसरों की नागरिक स्वतंत्रता को बनाये रखए रखने की अपील की गई है। महाभारत के शांतिपर्व में भीष्म ने राजा के कर्तव्यों को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है और सर्वोच्च राजा बनने की पहली शर्त प्रजा के विचारों और खुशी को रक्षित करना माना है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में शांतिपर्व के नियमन की पुष्टि की गई है। प्राचीन हिन्दू विधिक पद्धति और विश्व व्यापक परिवार की विस्तृत धारणा को मानवाधिकार संरक्षण के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करने वाले एक श्लोक का उल्लेख यहाँ समीचीन प्रतीत होता है।

न त्वह कामये राज्यं न वर्ग न पुनर्भवम्।
कामये दुःख तप्ताना, प्राणिनांड आत्मनाशम।।

अथर्ववेद में यह उच्चारित किया गया कि ''वे जो सभी मानवीय जीवों को अपने जैसा समझता है वह अपने आप में धोखा नहीं देता है। प्राचीन भारतीय युद्ध नियमावली जो संहितावद्ध नहीं होने के बावजूद कहीं अधिक प्रभावी तथा अनिवार्यतः पालन योग्य वाध्यता थी का चित्रण मनुस्मृति में मिलता है। मुन के मानवधर्म में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जो बिना हथियार के है या सो रहा है या नाग्नावस्था में है, बिना तैयारी है या दर्शक मात्र है ऐसे लड़ाकू को मारना अधार्मिक, अनैतिक तथा निंदनीय कृत्य है और बिना ऐसा कदापि नहीं होनी चाहिए।

न सुप्तं न विसन्नहं नग्नं न निरायुधाम।
ना युध्यमान पश्चन्तं न परेण समागतम्।।

इशोपनिषद में मानवाधिकारों का दूसरा मुलभुत सिद्धान्त लड़ाकूओं के बीच में सुस्पष्ट अंतर करता है। एक वैदिक श्लोक में मानवाधिकार सिद्धान्त को कुछ इस प्रकार उद्धत किया गया है–

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्रणि पश्यन्तु मां कश्चिद दुखः भाग्यवेत।।

मार्कण्डेय पुराण में उल्लेख है कि मैं सभी प्राणियों के लिए शुभकामना व्यक्त करता हूँ कि सभी भय से मुक्त हो सभी भाइचारे, ममता, स्नेह और आनंद से परिपूर्ण हो चाहे वे अपने हो या गैर हो। जो मुझे अब स्नेह करता है वह मानव जीवन में हन्यता का सहभागी हो और जो मुझ से यहाँ घृणा का चुनाव करता है, वह भी भलाई का मार्ग प्राप्त करें। गौतम बुद्ध ने तो मानवाधिकार सम्बंधी अपनी संकल्पना को जो विस्तृत आयाम दिया वह आज भी सर्वकालिक एवं सर्वव्यापी प्रासंगिक से उर्जावान एवं जीवंत दिख रहा है।

निःसंदेह भारतीय चिंतन परंपरा में मानवाधिकार का अस्तित्व प्राचीन काल से ही था किन्तु कतिपय पाश्चात्याभिमुखी अथवा वामपंथी विद्वानों को यह बात असत्य, भ्रामक एवं अतिरंजित दिखाई पड़ती है। राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान के अध्यक्ष प्रकांड विद्वान डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी ने वामपंथी शैली में वैदिक एवं परवर्ती साहित्य में खोजे गये मानवाधिकार सम्बंधी समस्त उद्धरणों को मानवाधिकार से पृथक बताया है। इतना ही नहीं कई ग्रन्थों के उदाहरण को लगभग अमानवीय भी कहा है। एक अन्य विद्वान उच्च पदस्थ अधिकारी अवनीश अवस्थी ने मानवाधिकार की पूरी कल्पना को विदेशी बताते हुए ऐसे तमाम प्रयासों का निरर्थक साबित करने की चेष्टा की है, जिससें प्राचीन संस्कृति के मानवीय मूल्यों को मानवाधिकार से सम्बद्ध करने का प्रयास किया गया है।

यह सच है कि मानवाधिकार का विषय द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका से संतप्त विश्व मानव समुदाय के लिए सर्वोत्तम हथियार माना गया था। विश्वयुद्ध में मानवीय अस्मिता, गरिमा और महिमा को चोट पहुँची थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने मानवीय गरिमा के प्रश्न को महत्ता दी और परिणामतः 1948 में मानवाधिकार की सार्वभौम घोषणा हुई। पाश्चात्य जगत की ओर देखते हुए हर नयी सोच को अनिवार्यतः पाश्चात्य आधुनिक विचार मानने वाले भारतीय विद्वानों ने मानवाधिकार के मर्म को न समझते हुए जिस प्रकार इसके बाहरी विन्यास को मौलिक मान लिया है उन्होंने भारतीय चिंतन की व्यापकता को न समझने का कुत्सित अपराध किया है। सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य वेद, ब्राह्मण, उपनिषद, पुराण और अर्थशास्त्र, योगसूत्र, नाट्यशास्त्र सबके सब मनुष्य को ईश्वर की श्रेष्ठतम रचना बताते है। वामपंथी विचारधारा के पृष्ठपोषक यदि चाहे तो ईश्वर की जगह प्रकृति को रखकर भारतीय चिंतन की मीमांसा कर सकते है, परिणाम उन्हें भी वही मिलेगा जो आध्यात्मिक विचारधारा से लैस विद्वानों को मिलता है।

दरअसल भारतीय वांगमय में मानवाधिकार की अति प्राचीन परिकल्पना को न समझने का एक बड़ा कारण दृष्टि और दृष्टिकोण का अंतर रहा है। पश्चिम और भारत की सांस्कृतिक अनुभूति में भारी अंतर है। पश्चिम में परिवार की महत्ता एक समिति अथवा अराजकीय सामाजिक संगठन से अधिक कुछ भी नहीं है, जबकि भारत में परिवार दंपति का विकास है। पुत्र एवं पुत्रियाँ परिवार नाम संस्था के मात्र सदस्य नहीं वरण माता–पिता के प्रवाह है। एक अलग इकाई होने के बावजूद भारतीय परंपरा उन्हें अपने माँ–बाप का अविभाज्य अंग मानता है। विवाह के समय बहु दूसरे कुल से आती है किन्तु अपने कुल से पृथक होकर। ऋग्वेद के ऋषियों के अनुसार देवता ही उसे पितृकुल से अलग करते है तथा पति कुल से युक्त करते है। तैतरीय उपनिषद में कहा गया है – मातृ देवो भव, पितृ देवो भव। अर्थात माता–पिता वैसे ही रक्षक है जैसे देवता। गीता में ईश्वर के विराट रूप को देखकर अर्जुन कहा है– त्वमेव माता च पिता त्वमेव। ऋग्वेद में ऋषि देवता की स्तुति करते हुए कहते है – हे देवों! आप हमें वैसे ही गोद में लेवे जैसे पिता पुत्र को लेता है। यहाँ पिता प्रथम पुरूष है और देवता द्वितीय। इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति में पिता–पुत्र परिवार का रिश्ता इतना अविभाज्य है कि उसमें मानवाधिकार के प्रसंग को ढूंढने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती।

परिवार से बाहर समाज और राष्ट्र के स्तर पर ही समस्त खाईयों एक दूसरे के साथ इस प्रकार गुंथी हुई मिलती है कि यहाँ भी मानवाधिकार की आधुनिक परिकल्पना बौनी दिख पड़ती है। प्राचीन शासन प्रणाली में राजा और प्रजा के बीच पिता–पुत्र का सम्बंध को धर्मशास्त्रों ने लौकिकता प्रदान की है। राजा के लिए प्रजा असाधारण पुत्र है और इस असाधारण पुत्र का पालन विशेष रूप से करने के लिए राजा बाध्य है। यही राजा का राजधर्म है। जो राजा प्रजा की भली–भांति सेवा नहीं करता वह राजपद पर बैठने का अधिकार खो बैठता है। तुलसी दास ने ऐसे राजाओं के लिए नर्क की सजा को सर्वोचित मानते है। उनके अनुसार –

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो न रअवसि नरक अधिकारी।।

पाश्चात्य जगत के राजा और वहाँ की राजव्यवस्थाएँ प्रजा के प्रति आक्रामक दृष्टिकोण रखती थी। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक सर्वसत्तावादी राजाओं तथा शासनायक्षों ने अपनी प्रजा के साथ जैसा विजातीय व्यवहार किया है उसमें आमजनों की सुरक्षा एवं सम्मान को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए मानवाधिकार के वर्तमान स्वरूप की आवश्यकता थी। भारत में मानवतावाद ने अपने अंदर मानवाधिकार सम्बंधी संचेतना को इतनी गहराई से बिठा लिया है कि हमें कभी इसकी आवश्यता ही महसुस नहीं हुई।

यह निर्विवाद सत्य है कि समस्त विश्व में भारतभूमि पर ही सर्वप्रथम मानव सहित सभी प्राणियों एवं प्रकृति की रक्षा के महत्व को समझा गया। यहाँ मैं जर्मन निवासी प्रो0 मैक्समूलर का उल्लेख करना चाहूँगी। उन्होंने दुनिया की प्राचीनतम भाषाओं वे संस्कृतियों का गहन अध्ययन किया तो संस्कृत व भारत को अद्भुत पाया। मैक्समूलर ने इसका रहस्योद्घाटन अपनी पुस्तक में "India what can It Tecah Us" सन् 1883 में किया। इस पुस्तक के अनुसार दुनिया में भारत ही वो जगह है, जहाँ पर मानव जाति ही नहीं अपितु विश्व बन्धुतव से भी आगे बढ़कर ब्रह्माण्ड बंधुत्व की कामना की जाती है। अतः प्राचीन भारत में मानव सहित प्रकृति के सभी घटकों का पर्याप्त महत्व दिया जाता था।

संदर्भ स्त्रोतः–

1. अथर्ववेद 8/299
2. इशोपनिषद 3/722
3. मार्कण्डये पुराण 9/17/2
4. रामचरित मानस, तुलसीदास
5. उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ में आयोजित संस्कृत वांगमय में मानवाधिकार विषयक सेमिनार में डॉ0 राजावल्लभ त्रिपाठी के भाषण का निहितार्थ, सितम्बर, 2010
6. हृदयनारायण दीक्षित के लेख – कर्तव्य प्रधान भारत का राष्ट्र धर्म में उद्धत, हिन्दुस्तान, 10 अक्टूबर 2011, पृ.सं.–8
7. जोशी, प्रो.आर.पी. – मानव अधिकार एवं कर्तव्य, अभिनव प्रकाशन, पृ.सं. – 25
8. सैनी, एस.के. – मानवाधिकार विधियाँ, पृ.सं. – 35

9. शर्मा, कृष्ण कुमार – मौलिक अधिकार विश्वकोष, पृ.सं. – 02
10. विकीपीडिया – मानवाधिकार
11. जैन, एच.सी. माथुर – आधुनिक विश्व का इतिहास, पृ.सं. – 78
12. प्रो.के.जी. शर्मा व प्रो.के.एस. कोठारी – आधुनिक विश्व का इतिहास, पृ.सं. – 72
13. शर्मा कालू राम शर्मा, व्यास – आधुनिक विश्व का इतिहास, पृ.सं. – 390
14. काला सतीश चन्द्र – सिंन्धु सभ्यता, पृ.सं. – 38, 73
15. यजुर्वेद – 36/03
16. शुक्ल यजुर्वेद – 36/17
17. गौरोला, वाचस्पति – कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम् 1/18
18. शर्मा, देवकान्ता – कौटिल्य के प्रशासनिक विचार, पृ.सं. – 57
19. पांथरी, भगवती प्रसाद – देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा अशोक, पृ.सं. – 11
20. वाल्मिकी रामायण